सत्यांश

आजादी का जश्न, गुलामी की स्मृति

प्रत्येक वर्ष 15 अगस्त के स्वतंत्रोत्सव और 26 जनवरी के गणतंत्रोत्सव आने पर विचार उमड़ने-उफनने लगते हैं कि इन राष्ट्रीय त्योहारों को मनाना कितना जरूरी है? मनाया जाए तो कैसे मनाया जाए? चूंकि 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश हुकूमत से भारत आजाद हुआ और 26 जनवरी, 1950 में अपना नया संविधान लागू हुआ, अतः हर साल की ये दोनों तारीखें स्वतंत्रता एवं संविधान की जन्मतिथियाँ होती हैं। जन्मदिवस अपने-अपने ढंग-संस्कार-सामर्थ्य के अनुरूप मनाने की पुरानी परिपाटी से काफी इतर भी आधुनिक नई रीति-नीति बनती गई है। जन्मदिवस छोटे बालक-बालिकाओं के लिए विशेष खुशी का दिन होता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, जन्मदिन का उत्साह फीका पड़ने लगता है। सदैव ऐसा ही होता है- कहना नासमझी होगी। कई बार 60-70-80-90 की बड़ी आयु में जब व्यक्ति को कोई बड़ा ओहदा जैसे राज्यपाल, मंत्री आदि का पद नसीब होता है, तो अब तक अज्ञात उसका जन्मदिवस धूमधाम से आयोजित होने के कारण सहज ही ज्ञात हो जाता है।

मनुष्य के लिए चौंसठ-पैंसठ साल की उम्र वृद्धावस्था की सूचक है, लेकिन किसी देश और संविधान के लिए यह कच्ची मानी जाएगी और उस देश के लिए तो अवश्य ही, जिसका इतिहास हजारों-हजार साल पुराना है, जिनमें से सैकड़ों साल तो गुलामी के हैं। इस लिहाज से स्वतंत्र भारत और उसका संविधान अभी बच्चा-कच्चा है। इसलिए इसका जन्मदिवस काफी तामझाम से संपन्न होता है। हालाँकि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद से ही भारत नामक राष्ट्र-राज्य का उदय हुआ- इससे इत्तफाक न रखने वाले करोड़ों हैं, फिर भी कोई भी आजादी का जश्न मनाने में पीछे नहीं रहता; बेशक, स्वाधीनता के जलसे में एक हिस्से की परवशता, लाचारी, संतापों का आर्त्तनाद सम्मिश्रित होता है।

स्वतंत्रता का उत्सव पराधीनता से मुक्ति का आनंद है। इस बात का एहसास भी कि निस्संदेह आज आजाद हैं, पर कभी गुलाम थे। इस प्रकार यह दासता की विस्मृति नहीं, स्मृति है। कभी-कभी स्मृतियाँ ही वर्तमान यथार्थ पर भारी पड़ती हैं, लेकिन यह निश्चित है कि परतंत्रता का स्मरण हमारी आज की आजादी में खलल नहीं डालता। हालाँकि यह सवाल भी है कि हम कितने आजाद हैं और आजादी के मायने क्या हैं? जैसे 1947 के हजारों साल पहले से 'भारत' के अस्तित्व को मानने वाले लोग हैं, वैसे ही इस आजादी को आधी-अधूरी अथवा भिन्न तरह की गुलामी मानने वाले भी बहुत हैं। समाज-लोक में जहाँ-तहाँ यह दर्द प्रकट होता है कि गोरे अंग्रेज चले गए, काले अंग्रेजों का शासन है। काले अंग्रेजों के शासन से तात्पर्य है कि बहुसंख्यक जनता शोषण, दमन, उत्पीड़न, अन्याय, निर्धनता, बेरोजगारी की शिकार है और शासक-प्रशासक वर्ग लूट-खसोट, रिश्वतखोरी, लालफीताशाही में संलिप्त है; मानवीय अधिकारों को संवेदनहीनता की पराकाष्ठा तक जाकर घृणित तरीके से कुचल रहा है। क्या आजादी के यही लक्ष्य थे कि विदेशी शासक चले जाएँ और स्वदेशी शासन व्यवस्था आम जनता को खून पसीने की अपनी ही कमाई से वंचित रखे और संचित धनराशि को भ्रष्टाचार के साधन से विदेशी बैंकों में व्यक्तिगत नाम से गुप्त रूप में जमा करे? स्वदेशी शासन तंत्र की चाह के मूल में जनसाधारण को अधिकतम एवं बेहतर से बेहतर मानवोचित विकास के संसाधन उपलब्ध करना होता है। इसके अभाव में भाषा-संस्कृति से लेकर बुनियादी आवश्यकताओं के लिए चीत्कार जगह-जगह सुनाई दे रहा है।

स्वतंत्रता एवं परतंत्रता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। तंत्र दोनों में है, फर्क सिर्फ अपने-पराये तंत्र का है; जहाँ अपने में अधिक अपनापन और पराये में अधिक परायापन होने की निश्चितता मानकर चला जाता है। एक सामान्य समझ तो है ही कि व्यक्ति के लिए न तो पूर्ण आजादी की कल्पना संभव है और न पूर्ण बंदिश की, क्योंकि मन-बुद्धि वाला स्वछंद चेतना का प्राणी होने के कारण स्वतंत्रता-परतंत्रता से नियंत्रण दुःसाध्य है। यह मन जब अपने वश से बाहर हो सकता है तो किसी अन्य के वश में कैसे हो सकता है? परंतु मन बस में हो या ना हो, तन बस में हो तो बहुत-सा काम स ध जाता है और तन के माध्यम से मन को साधने का उपाय भी खोजा जा सकता है। आजादी में भी बहुत-सारी सही-गलत परवशताएँ व्यक्ति को झेलनी पड़ती हैं, वैसे ही गुलामी में कुछ स्वतंत्रता छिपी रहती है। अति ताकतवर व एकदम विपन्न लोगों की सेहत पर आजादी-गुलामी से अन्तर नहीं पड़ता। उनका हाल जैसा पराधीनता में होता है, वैसा ही स्वाधीनता में भी। अच्छा-बुरा काम यथावत चलते रहता है, शासन करने वाले निजाम के बदलने पर भी। निजाम कथित रूप में अपना-पराया हो सकता है, जिससे प्रशासन की प्रकृति ही नहीं, अपितु दमन-शोषण की प्रवृत्ति में अन्तर आता है, पर यह भी सही है कि अपने द्वारा उत्पीड़ित होने पर दुख अधिक दारुण हो जाता है। फिर भी अपना अपना ही कहलाता है और पराया पराया, चाहे वह जान ही क्यों न ले ले, दे दे। रिश्ते-नाते-संबंधों की यह ऐसी पहेली है, जो बुझाए नहीं बुझती, मिटाए नहीं मिटती।

जहाँ परतंत्रता होती है, वहाँ आजाद होने की अभिलाषा जनमती है और जहाँ स्वतंत्रता होती है, वहाँ उसके लोप होने की सतत संभावना बनी रहती है। अतीत की लंबी गुलामी और वर्तमान की आजादी से मिली-जुली ऐसी तहजीब विकसित है, जहाँ पहचानना दुष्कर है कि कौन-सी चेतना स्वदेशी है और कौन-सी परदेशी? यह अलग प्रश्न हो सकता है कि इन्हें पहचानने की जरूरत भी भला क्या है? यह भी द्रष्टव्य है कि यदि भारत ने गुलामी के दिन न भी देखे होते तो क्या उसकी स्वतंत्र चेतना का मानस पूर्णतः पल्लवित-पुष्पित हुआ होता? आजादी के सड़सठ साल के छोटे कालखण्ड पर अतीत की गुलामी के सैकड़ों साल भारी हैं, जिनमें कई पीढ़ियाँ गुजरी हैं, अतः अभी आजादी की खुमारी स्वाभाविक है। इसका जश्न गुलामी की हीनता से मुक्त होने का हर्ष है, इसलिए यह आजादी बेशकीमती लगती है।

26 जनवरी की परेड में भारतीय सैन्य बलों द्वारा अस्त्र-शस्त्र के प्रदर्शन में संदेश सन्निहित होता है कि भारत साधन-संपन्न है। देशवासियों को आश्वस्त किया जाता है कि हम सुरक्षित हैं, वहीं दुनिया के सामने हर मुकाबले का मुँहतोड़ जवाब देने में सक्षम होने का यह प्रमाण है। लेकिन मॉक ड्रील, रिहर्सल या प्रदर्शन में प्रदर्शन अलग कला है, और युद्धक्षेत्र में पराक्रम दिखाना अलग कला। वास्तविक रणक्षेत्र में वीरता के आधार पर मूल्यांकन होता है कि कितने चौकस-चौकन्ने होकर दूसरों को मौका दिए

बिना किला फतह कर पाते हैं।

जश्न की चकाचौंध में आजादी के मूल उसूलों-सरोकारों से हम दूर होते जा रहे हैं। स्वदेशी शासन व्यवस्था में भी भारत और भारतीयों की अस्मिता-संस्कृति-सभ्यता पर अधिक चालाकी-भरे, जुगुप्सामूलक प्रहार हो रहे हैं। इसलिए धीरे-धीरे जश्न को कम करके आजादी के उसूलों को साकार करने की ओर बढ़ना चाहिए। परचेतना, कुसंस्कारों, कुरीतियों, जर्जरताओं से मुक्ति का स्वचेतन प्रयास ही असली स्वतंत्रता है। इसके बिना खोखले जलसे में पुरानी गुलामी तो याद कर ली जाती है, परंतु गुलामी के नए व्यवस्थागत अचिन्हित-उपेक्षित आयाम से मुँह छुपा कर बरी हो जाया जाता है।

कूड़ा और कुत्तागिरी

दिल्ली के मुहल्लों की सड़कों-गलियों पर कूड़ों का बेतरतीब बिखराव तड़के चार-पाँच बजे पूरे शबाव पर होता है। यही यह समय है जब आवारा कुत्तों की कुत्तागिरी भी अपने प्रकर्ष पर होती है। प्रातःकालीन आबोहवा यानी सबा को कुत्ते और कूड़े काफी हद तक ध्वनि प्रदूषण से लेकर वायु प्रदूषण तक प्रभावित करते हैं। सुबह सैर-सपाटा करने वालों को इन कूड़ों और कुत्तों से दो-चार होना पड़ता है। इनका सामना ज्यादा भयानक होता है तब, जब जल्दी सबेरे और अकेले घूमा जाए। कुछ लोग कुत्तों से बचाव की खातिर डंडा लेकर चलते हैं, जो आत्मबल-आत्मविश्वास बढ़ाता है। गिरिधर कविराय ने लाठी के गुण गाये हैं, जिनमें काटने को आतुर कुत्तों को निपटाने का गुण भी शामिल है।

कुत्ते सजीव ठहरे और कुत्ता होने के कारण कुछ बेवकूफ भी, सो दूसरों की आहट को भाँपकर अपनी आहट की भी खुली घोषणा कर देते हैं, पर कूड़ों के निर्माता गली-मुहल्लेवासी, घरवासी गलियों-सड़कों को कूड़ों की आपूर्ति धीरे-से, चुपके-से, आँखें बचाकर करते हैं। सुबह टहलने वाले यदि संभलकर न चलें तो उनकी देह पर कूड़ा या कूड़े का छिटका पड़ जाना मुश्किल नहीं है। सँकरी गलियों और घनी बस्तियों में ऐसी संभावना अधिक होती है। कूड़ा फेंकने वाले झट से फेंक कर नींद की झपकी में छिप जाते हैं। इस समय अनधिकृत रूप से अनधिकृत जगह पर कूड़ा डालने वाले ही सक्रिय रहते हैं जो किसी अन्य के दरवाजे को गंदा करते हैं या गलियों-सड़कों को। यही गंदगी आवारा कुत्तों को आमंत्रित कर निस्तब्धता में क्रियाशील रखती है। वैसे कपड़े फैलाने वालों के अलावे पान-खैनी की पीक व थूँक फेंकने वाले तो क्या दिन - क्या रात, सार्वजनिक स्थानों यथा मेट्रो स्टेशनों, बस अड्डों से गलियों-घरों तक अपने काम को अंजाम देने की ताक में रहते हैं और अंजाम देते हैं।

सुबह के सूनेपन को चीरने वालों में कूड़ों, कुत्तों और उनके बीच से होकर टहलने वालों के अतिरिक्त भी एक किरदार होता है जो इस वक्त का प्रमुख पात्र होता है। इसकी नजर तीक्ष्ण रूप से कूड़ों पर होती है, लेकिन इन्हें कुत्तों से भी बचना पड़ता है और एकआध राहगीर की दृष्टि से भी जूझना पड़ता है कि कहीं कूड़े के दायरे में किसी की कोई उपयोगी चीज तो नहीं आ रही है। कूड़ा-करकट में से अपने लिए बहुमूल्य चुनने वाले अधिकतर बच्चे सहित बच्चियाँ और महिलाएँ होती हैं। इन्हें खूब सबेरे देखकर कुत्तों का क्रोध सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। कुत्ते सतर्क रहते हैं। कभी अकेले-दुकेले, तो कभी तीन-चार-पाँच-छह के झुंड में घूमते-घूरते और आराम करते रहते हैं। दूसरे कुत्तों विशेषकर पालित-पोषित कुत्तों को देखकर तब तक भौंकते हैं, जब तक मालिक या सेवक कुत्तों को साथ लेकर दूसरी ओर नहीं चले जाते। रोजाना घूमने वाले गली-मुहल्लेवालों को कुत्ते अक्सर पहचान लेते हैं, लेकिन पागल और पशु से परिचय का क्या भरोसा! इसलिए कई बार रोजाना के परमिट वालों पर भी भौंकते हैं, काटने को दौड़ते हैं और यदि चौकस न रहा जाए तो काट भी लेते हैं। कुत्तों के काटने का इलाज पहले काफी कष्टसाध्य था, पेट की ढोंड़ी में चौदह सुई लेनी पड़ती थी। ऐसा लोकविश्वास है कि विष पूरे चौदह वर्ष में कभी भी असर कर सकता है और आदमी कुत्ते की बोली बोलकर मरता है। समय बीतने के साथ इलाज आसान हुआ है, पर अभी भी कुर्तों के काटने से सालाना हजारों लोग घायल होते हैं और सैकड़ों मरते भी हैं।

खैर! घुमक्कड़ों को तो कुत्ते बख्श भी देते हैं, पर कूड़ा बीनने वाले बच्चों, महिलाओं के प्रति अधिक क्रूर होते हैं। उन पर झपटने, टूट पड़ने, भौंकने के साथ काटने को तत्पर रहते हैं, जब तक कि कूड़ा बीनने वाले कूड़ा में से कामलायक छाँटकर अपने पास रखते हुए अलग नहीं हो जाते। कूड़ा वाले भी कोई ऐसे-वैसे नहीं होते, न तो टहलने वालों की तरह डरते हैं और न पीछे हटते हैं। अभ्यस्त होने के कारण कूड़ा बीनते हुए कुत्तों से जूझते हुए बचे रहते हैं। कुत्ते कभी-कभार इन्हें भी काटते होंगे, लेकिन इसका कोई प्रत्यक्ष लेखा-साक्ष्य नहीं है। जिन कूड़ों में से उपयोगी चुना जाता है, वे कुत्तों की स्क्रीनिंग से पहले ही गुजर चुके होते हैं। जो कुत्तों के काम नहीं आता, उन्हें चुगने पर आखिर कुत्ते क्यों नाराज होते हैं? कूड़ों की छँटाई करके जीवन-बसर करने वालों के कुत्ते दुश्मन क्यों हैं?

कूड़ा बीनने वालों ने शहरों-महानगरों में कूड़े के भार को थोड़ा ही सही, हल्का किया है। इनके द्वारा बिखराव होने के बावजूद कूड़ा व्यवस्थित भी होता है। जो अपवर्ज्य-त्याज्य रूप में फेंक दिया गया हो, उनमें से ये ग्रहणीय ढूँढ़कर उसके इस्तेमाल से अपना जीवन-यापन करते हैं। कूड़ा संग्रह करने वाली संस्थाओं व निकायों के वेतनभोगी कर्मचारियों के बोझ को भी कुछ कम करते हैं। कूड़े-करकटों का व्यक्तिगत स्तर पर उपयोग इनसे बेहतर कौन कर सकता है, कौन करना भी चाहेगा? कुत्ते जब उन पर झपटकर भौंकते हुए कुत्तागिरी करते हैं तो देखकर आघात लगता है। कुत्तों को बड़े रईस कुत्ते कम दिखते हैं और हाथी-ऊँट भी सुबह-सुबह नहीं दिखते, फलतः सड़कों, पार्कों, फुटपाथों, फ्लाई-ओवरों के इर्द-गिर्द जिन्दगी व्यतीत करने वालों पर चिल्लाते हैं। कुत्ते स्वयं भी गलियों-सड़कों पर ही रहते हैं।

कूड़ा बीनने वाला मनुष्य जाति का है तो कुत्ता पशु जाति का। दोनों की जिन्दगी बिना ठौर-ठिकाने के अवशेषों-अपवर्जितों पर चलती है, फिर दोनों एक दूसरे से जूझते हैं शायद अपनी जैविक प्रजातीय स्वभाव के कारण, जबकि दोनों का स्वार्थ एक दूसरे की स्वार्थपूर्ति में कभी आड़े नहीं आता। संभवतः यह प्राकृतिक ईर्ष्या-द्वेष है जिसके कारण मनुष्य सहित बाकी जीव-जन्तु भी आपसी वैर भाव रखते हैं। जहाँ बाहरी दुश्मन - जाति, संप्रदाय, क्षेत्र, वर्ग के रूप में न हों, वहाँ आपस में ही दीवार खड़ी करके लड़ाई-झगड़े, मुकदमे चलते रहते हैं। सामाजिक सच है कि जहाँ किसी भी स्तर पर बाहरी शत्रु उपलब्ध नहीं, वहाँ भी झगड़ा-झंझट कम नहीं है, बस वहाँ यह आपस में है। बाहरी शत्रु की उपस्थिति एकजुट रखती है रंग-रूप के रूप में या धर्म-जाति-संप्रदाय के रूप में या फिर राज्य-राष्ट्र के रूप में। हालाँकि इन्हें सदैव प्रतिद्वन्द्वी-प्रतिस्पर्द्धी के रूप में देखना उचित नहीं है, पर एक कटु सच्चाई तो है ही। सामूहिक अहं का टकराव कितना बड़ा होगा- यह पराये पक्ष की विशालता पर निर्भर करता है, पर जहाँ अन्य अनुपस्थित हों, वहाँ आपस में ही अहं का टकराव होता है, आखिर दुश्मनी का कोटा जो पूरा करना होता है। क्या कोई ऐसा ही कोटा अपनत्व का भी तय हो पाया है? ✱